आज़ादी से पहले और उसके कई वर्षों बाद तक हमारी रेलगाड़ियों में एक तीसरा दर्ज़ा हुआ करता था। इसकी हालत आज के सामान्य श्रेणी के डिब्बों की तरह ही हुआ करती थी। लम्बी यात्राओं के दौरान इन डिब्बों में सफर करने वालों का कचूमर ही निकल जाता। आज जब कोई खास व्यक्ति रेल में यात्रा करता है तो उसका खास ख्याल रखा जाता है। बरसों पहले गांधीजी ने तीसरे दर्जे में कई यात्राएँ की थीं। यहाँ उनकी कलम से लिखी ऐसी ही एक यात्रा का वर्णन है। कहते हैं उन दिनों डिब्बा ठसाठस भरा होने के बाद भी नए यात्री का स्वागत रहता था। क्या आज भी ऐसा होता है?

# गाँधी जी की तीसरे दर्जे की यात्रा

मैं कराची, कलकत्ता आदि जगहों में भी हो आया था। सब जगह अच्छी खासी सभाएँ हुईं। सभी जगह लोगों में भरपूर उत्साह था। इन सभाओं का सिलसिला शुरू करते समय ऐसी सभाएँ होने और उनमें इतनी उपस्थिति होने की उम्मीद मैंने नहीं की थी।

इन दिनों मेरी यात्रा अकेले ही होती थी। इससे अद्‌भुत अनुभव होते थे। खुफिया पुलिस वाले तो पीछे लगे ही रहते थे। इनके साथ मेरा झगड़ा होने का कोई कारण न था। मुझे कुछ छिपाना तो नहीं था। इससे न वे मुझे तंग करते थे और न मैं उन्हें तंग करता था। सौभाग्यवश तब तक मुझे महात्मा की उपाधि नहीं मिली थी। हालाँकि जहाँ मैं पहचान लिया जाता था वहाँ इस नाम से पुकार तो मचती थी।

एक बार रेल में जाते हुए कई स्टेशनों पर खुफिया पुलिस वाले मेरा टिकट देखने आए। वे टिकट का नम्बर वगैरा लेते रहे। वे जो पूछते मैं उसका तुरन्त जवाब देता था। साथी यात्रियों ने मान रखा था कि मैं कोई सीधा-सादा साधु या फकीर हूँ। जब दो-चार स्टेशनों तक खुफिया पुलिस वाले लगातार आते रहे तब ये यात्री बिगड़ गए। उन्होंने पुलिसवालों को गालियाँ देकर धमकाया, "इस बेचारे साधु को नाहक क्यों सताते हो।" फिर मेरी ओर मुखातिब होकर बोले, "इन बदमाशों को टिकट मत दिखाओ।"

मैंने धीरे से साथी यात्रियों से कहा, "उनके देखने से मुझे कोई परेशानी नहीं होती है। वे अपना कर्तव्य करते हैं। इसमें मुझे कोई दुख नहीं है।" यात्रियों के गले यह बात नहीं उतरी और वे मुझ पर ज़्यादा तरस खाने लगे। वे आपस में बातें करने लगे कि बेकसूर आदमियों को इतना हैरान क्यों किया जाता है?

खुफिया पुलिस वालों से तो मुझे कोई तकलीफ नहीं हुई, पर रेलवे की भीड़ के कष्ट का कड़ुए-से-कड़ुआ अनुभव मुझे लाहौर से दिल्ली के बीच हुआ। मुझे लाहौर होते हुए कराची से कलकत्ते जाना था।

लाहौर में ट्रेन बदलनी पड़ती थी। वहाँ की ट्रेन में मेरी दाल कहीं गल नहीं पाती थी। यात्री ज़बर्दस्ती अपना रास्ता बना रहे थे। दरवाज़ा बन्द होता तो खिड़कियों से अन्दर घुस रहे थे। मुझे कलकत्ते खास समय पर पहुँचना था। यह ट्रेन खो बैठता तो कलकत्ते नहीं पहुँच सकता था। मैं जगह मिलने की उम्मीद छोड़ चुका था। कोई मुझे अपने डब्बे में जगह नहीं दे रहा था। अन्त में एक कुली ने मुझे जगह ढूँढ़ते देखकर कहा, "मुझे बारह आने दो तो मैं जगह दिला दूँ।" मैंने कहा, "मुझे जगह दिला दो तो ज़रूर बारह आने दूँगा।" कुली से यात्रियों ने कहा, "यहाँ जगह नहीं है। लेकिन इसके भीतर घुसा सकते हो तो घुसा दो। पर खड़ा रहना होगा।" कुली ने पूछा, "क्यों जी?" मैंने हाँ कहा और उसने मुझे उठाकर खिड़की में से अन्दर डाल दिया। मैं अन्दर घुसा। कुली ने बारह आने पैसे बना लिए।

मेरी यह रात बड़े कष्ट से बीती। दूसरे यात्री ज्यों-त्यों करके बैठ गए। मैं ऊपर की बेंच की जंज़ीर पकड़े दो घण्टे खड़ा ही रहा। इस बीच कुछ यात्री मुझे लगातार धमकाते रहे, "अजी, अब तक बैठते क्यों नहीं हो?" मैंने बहुतेरा समझाया कि कहीं जगह भी तो हो। पर उन्हें तो मेरा खड़ा रहना भी सहन नहीं होता था। हालांकि ऊपर की बेंचों पर वे आराम से लम्बे होकर पड़े थे। वे तंग करते रहे। जब-जब वे तंग करते मैं शान्ति से जवाब दे देता था। इससे वे कुछ शान्त हुए।

मेरा नाम-धाम पूछा। जब मुझे नाम बतलाना पड़ा तब वे शरमाए। माफी माँगी और मेरे लिए अपनी बगल में जगह कर दी। "सब्र का फल मीठा होता है" कहावत याद आई। मैं थककर चूर हो रहा था। सिर घूम रहा था। बैठने की जगह की जब सच्ची आवश्यकता थी तब ईश्वर ने दिला दी। यूँ धक्कम-धक्के में कलकत्ते समय पर पहुँच गया। चक्मक

*(गांधीजी की आत्मकथा सत्य के प्रयोग से)*

*प्रस्तुतिः दिलीप चिंचालकर*